वीतराग-योग

☐ कन्हैयालाल लोढा

पशु, पक्षी आदि प्राणियों का जीवन प्रकृति पर निर्भर करता है। उन्हें प्रकृति से जब जो भोग की सामग्री मिल गयी और उसकी उस समय आवश्यकता हुई तो उसका भोग कर लेंगे, आवश्यकता नहीं हुई तो उसका भोग नहीं करेंगे। जैसे खाने को घास या अनाज मिला तो भूख होगी तो ही खायेंगे, भूख नहीं हो तो नहीं खायेंगे। उनकी भोग की यह प्रकृति प्राकृतिक है। उनकी प्रकृति (आदत) प्रकृति—निसर्ग Nature के आधीन होती है। इस दृष्टि से वे अपनी आदत या प्रकृति के आधीन हैं, पराधीन हैं। वे भोगयोनि जीव हैं। भोग के आधीन हैं। भोग से मुक्ति पाना उनके लिए संभव नहीं है। परन्तु मानव में यह बात नहीं है। उसके सामने भोजन आ जाय तो उसे भूख होने पर भी वह अपने को खाने से रोक सकता है, भूख न हो तब भी खा लेता है। अतः मानव में यह विशेषता है कि वह भोग वृत्ति व प्रवृत्ति को घटा या बढ़ा सकता है तथा भोग का पूर्ण त्याग भी कर सकता है अर्थात् वह भोग के आधीन नहीं है तथा भोग से सर्वथा मुक्ति भी पा सकता है। भोग के आधीन नहीं होने से प्रकृति के आधीन नहीं है, प्रकृति से मुक्ति पा सकता है। जो अपनी भोग की प्रकृति (आदत) तथा प्रकृति (Nature) के आधीन नहीं है वह पराधीन नहीं है, स्वाधीन है, मुक्त है। मुक्त होने में ही मानव-जीवन की सफलता है, मुक्त होने की प्रक्रिया ही साधना है।

साधना-जगत् में स्वभाव, साधक, साध्य, साधना, साधन, सिद्धि, आदि तत्त्वों का बड़ा महत्त्व है। प्रस्तुत लेख में इन्हीं तत्त्वों पर वीतराग के परिप्रेक्ष्य में जैन, बौद्ध, योग दर्शन को परिप्रेक्ष्य में रखते हुए स्वयं-सिद्ध निजज्ञान के आधार पर प्रकाश डाला जायेगा।

स्वभाव—वस्तु में जो गुण स्वतः सदा के लिए विद्यमान है, वह स्वभाव है। स्वभाव वस्तु में सदा, सर्वत्र विद्यमान रहता है, उसकी कभी उत्पत्ति व नाश नहीं होता है। स्वभाव और प्रकृति में अन्तर है। स्वभाव प्रकृति के आधीन नहीं होता। प्रकृति (आदत) प्रकृति के आधीन होती है, प्रकृति में पर की आधीनता होती है, अतः प्रकृति पराधीनता की द्योतक है। प्रकृति का संबंध कर्म से होता है, स्वभाव से नहीं। प्रकृति कर्म का ही अंग है।

साधक—साधक वह है जिसका कोई साध्य है और उस साध्य की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्नशील है।

साध्य—साधक का लक्ष्य ध्येय या उद्देश्य साध्य है। साध्य साधक का स्वभाव होने से सभी साधकों का एक होता है व सभी को अभीष्ट होता है।

साधना—साधक द्वारा साध्य की प्राप्ति के लिए किया गया पुरुषार्थ साधना है। यह प्रत्येक साधक की अपनी-अपनी होती है।

साधन—साधना का सहयोगी अंग साधन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महा सती जी विभिन्न योग मुद्राओं में ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धि—साध्य की उपलब्धि सिद्धि है।

सिद्ध—जो सिद्धि प्राप्त कर उससे सदा के लिए अभिन्न हो गया है, वह सिद्ध है।

यह तो साधना-तत्त्वों का सामान्य विवेचन हुआ। आगे इन्हीं का कुछ विस्तार के साथ विवेचन करते हैं।

साधक का सर्वप्रथम आवश्यक कार्य यह है कि वह अपने साध्य का निर्णय करे। साध्य वही होता है जो सत्य हो, यथार्थ हो। सत्य वही होता है जो सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में समान रहे, जिसमें भेद व भिन्नता न हो। उसमें निम्नांकित विशेषताएँ होती हैं—

(१) वह सार्वजनीन होता है अर्थात् वह मानव मात्र को समान रूप से इष्ट होता है। जो किसी को इष्ट हो और किसी को इष्ट न हो, वह साध्य नहीं हो सकता। कारण कि उसमें भेद व भिन्नता है, वह सीमित है।

(२) वह सार्वदेशिक होता है अर्थात् वह सर्व देशों में, सर्व क्षेत्रों में समान रूप से इष्ट होता है। जो किसी एक देशवासी के लिए इष्ट हो और अन्य देशवासियों के लिए इष्ट न हो, वह साध्य नहीं हो सकता। कारण कि उसमें भेद व भिन्नता है, वह सीमित है।

(३) वह सार्वकालिक होता है अर्थात् वह सदा इष्ट होता है। जो किसी काल में इष्ट हो और किसी काल में इष्ट न हो, कभी इष्ट हो कभी इष्ट नहीं हो, वह साध्य नहीं हो सकता। कारण कि वह भेदभिन्नता युक्त सीमित है।

(४) वह सार्वभाविक होता है अर्थात् सर्व अवस्थाओं एवं परिस्थितियों में अभीष्ट होता है। जो किसी अवस्था व परिस्थिति विशेष में इष्ट हो और अन्य अवस्था व परिस्थिति में इष्ट नहीं हो, वह साध्य नहीं हो सकता। कारण कि वह सीमित है।

सत्य ही साध्य है। सत्य में भेद व भिन्नता नहीं होती है, जैसे (१) त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोण होता है, (२) तीन और चार मिलकर सात होते हैं आदि ये सब मनुष्यों के लिए सब देश, सब काल और सब अवस्थाओं में समान रूप से स्वीकार्य हैं। इसमें तर्क व ननुनच करने का गुंजाइश या अवकाश नहीं है।

जिसमें भेद व भिन्नता है वह वर्ग देश, काल, अवस्थाविशेष तक सीमित होता है। जो सीमित होता है वह अपूर्ण होता है। जो अपूर्ण होता है वह दोषयुक्त होता है। अपूर्णता दोष की द्योतक होती है। जो जितना अपूर्ण है वह उतना ही दोषयुक्त है। वस्तुतः दोष का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता क्योंकि यह नियम है कि जिसका स्वतंत्र अस्तित्व होता है वह अविनाशी होता है, उसका आत्यंतिक विनाश संभव नहीं होता। अतः यदि दोष का स्वतंत्र अस्तित्व होता तो कोई भी साधक दोष से मुक्त नहीं हो सकता। वस्तुतः दोष गुण की अपूर्णता या कमी का नाम है। जैसे अहिंसा गुण में कमी ही हिंसा रूप दोष है। सत्य बोलने में कमी ही मिथ्याभाषण का दोष है, विराग गुण में कमी ही राग का दोष है आदि। आशय यह है कि जो सीमित है, वह अपूर्ण है, कमी युक्त है, अतः वह साध्य नहीं हो सकता। साध्य सदैव असीम, अनंत, परिपूर्ण होता है।

आइये, अब यह विचार करें कि ऐसे कौन से तथ्य या गुण हैं जो सार्वजनिक, सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वभाविक हैं अर्थात् जो सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभीष्ट हैं। विचार करने पर ज्ञात होगा कि (१) सुख, (२) अमरत्व (अविनाशीपन), (३) स्वाधीनता, (४) चिन्मयता, (५) सामर्थ्य, (६) पूर्णता आदि सभी को सदैव, सर्वत्र सब प्रकार से अभीष्ट (पसंद) है। किसी को भी (१) दुःख, (२) मृत्यु (विनाश), (३) पराधीनता, (४) जड़ता, (५) असमर्थता, (६) अभाव आदि कभी भी, कहीं भी पसंद नहीं है।

किसी से यह पूछा जाय कि तुम्हें सुख चाहिये या दुःख, अमरत्व चाहिये या मृत्यु, स्वाधीनता चाहिए या पराधीनता, सामर्थ्य चाहिये या असमर्थता, पूर्णता चाहिये या अभाव (कमी), तो कोई भी यह नहीं कहेगा कि "मैं" सोच-विचार कर पीछे जवाब दूंगा। प्रत्युत बिना किसी प्रकार ऊहापोह, तर्क-वितर्क किए तत्काल उत्तर देगा कि सुख चाहिए, अमरत्व चाहिए, स्वाधीनता चाहिए, सामर्थ्य चाहिए, पूर्णता चाहिए। इसका कारण यह है कि ये गुण चेतन (जीव) के स्वभाव हैं। स्वभाव होने से स्वयंसिद्ध हैं। जो स्वयंसिद्ध हैं उन्हें सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम आदि किसी भी अन्य प्रमाण की अपेक्षा या आवश्यकता नहीं होती है। न उनमें किसी तर्क को ही अवकाश (स्थान) होता है। इसीलिए स्वयंसिद्ध ज्ञान सहज ज्ञान है, निजज्ञान है, स्वाभाविक ज्ञान है। स्वाभाविक ज्ञान होने से अपरिवर्तनशील है, नित्य ज्ञान है, शाश्वत-सनातन अनंत ज्ञान है। स्वाभाविक ज्ञान में तर्क की आवश्यकता नहीं होती। कहा भी है "स्वभावोऽतर्कगोचरः।" इससे यह भी फलितार्थ निकलता है कि जिसमें तर्क हो सकता है, वह स्वाभाविक ज्ञान या निजज्ञान नहीं है, प्रत्युत इन्द्रिय-मन-बुद्धिजन्य ज्ञान है, परोक्षज्ञान है। उस ज्ञान का संबंध निज स्वरूप से न होकर परिवर्तनशील परपदार्थों से होता है अर्थात् शरीर और संसार तथा इनके पारस्परिक व पारम्परिक संबंध से होता है। परपदार्थ, शरीर और संसार व इनका संबंध परिवर्तनशील है, अनित्य है, अतः इनका ज्ञान भी परिवर्तनशील, विकारी व अनित्य है। इसे आगम भाषा में क्षायोपशमिक ज्ञान कहा है।

तात्पर्य यह है कि जो सबको सदा अभीष्ट है, स्वयंसिद्ध है, स्वभाव है, स्वधर्म है, वह ही साध्य है। इस दृष्टि से विचारने पर ज्ञात होता है कि सुख, अमरत्व, अविनाशीपन, स्वाधीनता, पूर्णता, चिन्मयता, सामर्थ्य आदि मानव मात्र का साध्य है। यही नहीं इन सबका परस्पर में घनिष्ट सम्बन्ध भी है। जहाँ इनमें से कोई भी एक है, वहाँ अन्य भी सब हैं। उदाहरणार्थ सुख को ही लें तो किसी को भी विनाशी, पराधीन, अपूर्ण, दुःखयुक्त सुख नहीं चाहिये; सभी को अविनाशी (अक्षय), पूर्ण (अखंड), अनन्त, स्वाधीन (अव्याबाध) सुख चाहिये। अतः कहना होगा कि सभी का साध्य अक्षय, अव्याबाध, अनन्त सुख है, क्योंकि सभी को यह इष्ट (पसंद) है। इसी प्रकार हम स्वाधीनता, सामर्थ्य आदि को भी ले सकते हैं।

सुख, अमरत्व, चिन्मयता (पूर्ण ज्ञान व दर्शन), स्वाधीनता, पूर्णता रूप साध्य को प्राप्त करना ही सिद्धि प्राप्त करना है। जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली है, वह ही सिद्ध है। इस दृष्टि से साध्य वही है जो सिद्ध पद के गुण हैं अर्थात् सिद्धत्व के गुण हैं।

जैन व बौद्ध धर्म में सिद्ध पद में जिन गुणों का होना कहा है, वही साध्य का स्वरूप है। सिद्धों के गुण हैं अमर (अविनाशी), अजर, मुक्त (स्वाधीन), शिव, ध्रुव, अक्षय, अव्याबाध-अनन्त सुख, अनिन्द्रिय, अनुपम, देहातीत, लोकातीत, भवातीत। जिनमें ये गुण हैं, वे ही सिद्ध हैं। अतः ये गुण सभी साधकों के साध्य भी हैं। ये ही गुण चेतन का स्वभाव है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुख, अमरत्व, स्वाधीनता, चिन्मयता, सामर्थ्य, पूर्णता प्राप्त करने एवं दु:ख, मृत्यु, पराधीनता, जड़ता, असमर्थता, अभाव आदि अवांछनीय, अनिष्ट स्थितियों से मुक्त होने रूप साध्य का ऊपर वर्णन किया गया। उस पर गहराई से विचार करने पर यह बात सामने आती है कि इन सब अनिष्ट स्थितियों की उत्पत्ति का सम्बन्ध शरीर से है, अर्थात् शरीर के साथ ये सब दु:ख लगे हुए हैं। शरीर और संसार एक ही जाति के पदार्थ—पुद्गल से बने हैं। अत: दोनों एक ही जाति, गुण व धर्म के हैं। अत: शरीर का सम्बन्ध संसार से है।

चेतना का शरीर और संसार से वियोग अवश्यंभावी है। जो सदा साथ न दे, जिसका वियोग हो जावे वह 'पर' है। 'पर' पर जीवन निर्भर करना पराधीनता है, बंधन है। पर से परे होना अर्थात् शरीर और संसार से परे होना, अतीत होना ही सब बन्धनों से, सब दोषों-दु:खों, बुराइयों से छुटकारा पाना है, मुक्त होना है। मुक्त होने का अर्थ है शरीर और संसार आदि 'पर' के आधीन व आश्रित न रहना, स्वाधीन होना। कहा भी है—

"बुद्धि वीर जिन हरि हर ब्रह्मा, या उनको स्वाधीन कहो।
भक्तिभाव से प्रेरित हो, चित्त उसी में लीन रहो।" —मेरी भावना

अत: 'मुक्त' होने में दु:ख, मृत्यु, अभाव आदि समस्त दोषों व दु:खों से मुक्ति मिल जाती है एवं सुख, अमरता, पूर्णता आदि सब इष्ट गुणों व साध्यों की उपलब्धि हो जाती है, अर्थात् एक ही 'मुक्ति' शब्द में सब साध्यों का समावेश हो जाता है। इसीलिए साध्य हुआ 'मुक्ति' प्राप्त करना। मुक्ति की प्राप्ति वीतरागता से ही संभव है। कारण कि राग ही बन्धन का कारण है। अत: साधना है वीतरागमार्ग। इसीलिए यहाँ आगे वीतरागता के परिप्रेक्ष्य में जैन, बौद्ध व योग साधनाओं का अति संक्षेप में विवेचन किया जा रहा है। वर्तमान में 'योग' शब्द का साधना के अर्थ में प्रयोग हो रहा है, जैसे ज्ञानयोग, कर्मयोग, समत्वयोग, उपासनायोग, आदि। इसी अर्थ में यहाँ वीतराग-साधना को 'वीतराग-योग' के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

साधना

प्राणी में तीन शक्तियाँ हैं—(१) जानने की शक्ति, (२) संवेदन (अनुभवन, विश्वास) करने की शक्ति और (३) क्रिया करने की शक्ति। इन तीनों शक्तियों को क्रमशः ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा जाता है। इन ही तीनों शक्तियों का दुरुपयोग बंधन व दु:ख का तथा सदुपयोग मुक्ति व सुख का कारण है। इन शक्तियों के दुरुपयोग को दोष कहा जाता है, जो दु:ख व संसार परिभ्रमण का कारण है और इन्हीं शक्तियों के सदुपयोग को साधना कहा जाता है, जिसे अपनाकर मानव राग, द्वेष, मोह, विषय, कषाय आदि समस्त दोषों एवं पराधीनता, अभाव आदि समस्त दु:खों से सदा के लिए मुक्त हो सकता है। इसी तथ्य को जैनागम उत्तराध्ययन-सूत्र के २८वें अध्ययन में प्रतिपादन करते हुए कहा है—

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गोत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदंसिहि ॥२॥

अर्थात् श्रेष्ठ द्रष्टा जिनेन्द्रों ने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मुक्ति का मार्ग कहा है अर्थात् साधनापथ बताया है। यहाँ क्रियाशक्ति को चारित्र और तप इन दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है।

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

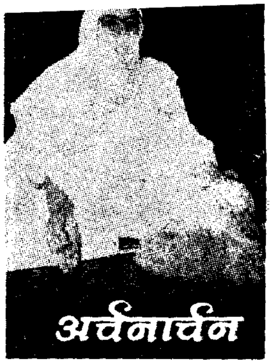

ज्ञान-दर्शनसाधना

सामान्यत: प्रत्येक मानव अपने जीवन में अपने ज्ञान, दर्शन एवं क्रियाशक्ति का उपयोग सुख, शांति, मुक्ति रूप उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही करता रहा है व कर रहा है। परन्तु उसे अपने इस उद्देश्य की सिद्धि में सफलता मिलना तो दूर रहा उल्टा, ज्यों-ज्यों दवा की त्यों-त्यों रोग बढ़ता ही गया, यह कहावत चरितार्थ हो रही है। इसका कारण इन शक्तियों का गलत उपयोग अर्थात् दुरुपयोग ही है। इस दुरुपयोग का मूल कारण उसकी यह भ्रान्त व मिथ्या मान्यता है कि सुख इन्द्रियों के विषयभोगों की पूर्ति में व विषयभोगों की सामग्री की उपलब्धि में है। इस मान्यता में रही भ्रान्ति को समझने के लिए कामनापूर्ति से मिलनेवाले किसी भी विषय-सुख का विश्लेषण करना होगा।

विषय-सुख की यथार्थता

उपर्युक्त तथ्य को समझने के लिए यहाँ भोजन से प्राप्त होने वाले सुख को ही लें। किसी तीन दिन के भूखे व्यक्ति को उसका मनचाहा स्वादिष्ट भोजन मिला, उसने भोजन करना प्रारम्भ किया तो उसे बड़ा सुख प्रतीत हुआ। परन्तु जैसे-जैसे वह ग्रास लेता गया वैसे-वैसे वह सुख घटता गया, क्षीण होता गया। जितना सुख पहले ग्रास के लेने में मिला, उतना सुख दूसरे ग्रास के लेने में नहीं रहा, हर अगले ग्रास में सुख कम होता गया और अन्त में सुख या रस बिल्कुल नहीं रहा। वह सुख या रस नीरसता में बदल गया। फिर उसे कोई बीस-तीस ग्रास और खाने के लिए कितना ही लोभ दे या भय दिखावे, वह और खाने के लिए अपनी असमर्थता प्रकट करेगा। यही बात सुनने के सुख पर भी चरितार्थ होती है। कोई कितना ही मधुर गाना हो, उस गाने की कैसेट बार-बार सुनी जाय तो उसका सुख हर बार, हर क्षण क्षीण होता जायेगा और अन्त में उससे ऊब हो जायेगी, नीरसता आ जायेगी। देखने के सुख को लें। कोई विदेशी हजारों रुपया व्यय करके आगरा के ताजमहल की सुन्दरता को देखने के लिए भारत आता है और ताजमहल को देखते ही बड़ा सुख अनुभव करता है, परन्तु वह सुख क्षण-प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है। फिर एक क्षण ऐसा आता है कि उसका यह देखने का सुख नीरसता में बदल जाता है तब वह देखने से ऊब कर वहाँ से जाने को उद्यत हो जाता है और चला जाता है। इससे यह परिणाम निकलता है कि इन्द्रियों से मिलने वाला सुख प्रथम क्षण जितना अगले क्षण नहीं रहता है, प्रति क्षण क्षीण होता हुआ वह सुख सूख जाता है, समाप्त हो जाता है, अत: क्षणिक है; अक्षय, नित्य, शाश्वत नहीं है।

वस्तुत: विषय-सुख, सुख नहीं सुखमात्र है। जैसे सिनेमाघर में पर्दे पर घटनाएँ सत्य व अभिनेता सजीव दिखाई देते हैं परन्तु वे यथार्थ में सत्य व सजीव होते नहीं हैं, सत्यता व सजीवता का आभास होता है। इसी प्रकार विषय-सुख यथार्थ में होता, उसका अस्तित्व होता तो हमें किसी न किसी प्रकार का सुख तो हर समय मिलता ही रहता है, वह मिला हुआ सुख ढेर सारा इकट्ठा हो जाता। परन्तु सुख का इकट्ठा होना, बढ़ना तो दूर रहा, उसमें से किसी भी सुख का वर्तमान में अस्तित्व ही न रहा। यदि भोग्य वस्तु व भोक्ता के न रहने पर सुख न रहता होता तब भी यह माना जा सकता था कि वस्तु की प्राप्ति के साथ सुख का संबंध है। परन्तु हम सब का अनुभव यह है कि जिस वस्तु से सुख मिला उस भोग्य वस्तु के विद्यमान रहते, जिस इन्द्रिय के साधन से सुख भोगा उस इन्द्रिय व उसकी भोगने की शक्ति के विद्यमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहते और जिस व्यक्ति ने सुख भोगा उस भोक्ता व्यक्ति के भी विद्यमान रहते अर्थात् भोग्य वस्तु, भोग का साधन, भोग की शक्ति एवं विषय सुख प्राप्ति के भोक्ता ये चारों तत्त्व ज्यों के त्यों विद्यमान रहने पर भी सुख नहीं रहता है। ऊपर के ताजमहल वाले उदाहरण में देखने के सुख को ही लें, ताजमहल के देखने से सुख मिलने का संबंध होता तो ताजमहल, वहाँ स्थित उसका पहरेदार व उसकी नयन की शक्ति, इन सबके विद्यमान रहते हुए भी पहरेदार को देखने का लेशमात्र भी सुख नहीं मिलता है। इससे यह फलितार्थ निकलता है कि इन्द्रियों की विषय-वस्तु की प्राप्ति से सुख मिलता है, यह मान्यता भ्रान्त व मिथ्या है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर यह सुख मिलता कैसे है? आगे इसी प्रश्न के समाधान पर प्रकाश डाल रहे हैं।

सुख कामनापूर्ति में नहीं, कामना के अभाव में है

कामना की पूर्ति से जिस सुख की प्रतीति होती है, वस्तुतः उस सुख का कारण कामनाओं का अभाव तथा निष्काम होना है, न कि कामनाओं की पूर्ति तथा पूर्ति के लिए उपलब्ध वस्तुएँ। कारण कि कामना या भोगेच्छा की पूर्ति के समय जो वस्तुएँ उपलब्ध हुई वे वस्तुएँ पहले भी विद्यमान ही थीं, नवीन नहीं उत्पन्न हुई। केवल उनकी दूरी कम हुई है, पहले दूर थीं अब कुछ निकट आ गई हैं। अतः उन वस्तुओं से सुख मिलता होता तो पहले भी मिलता। दूसरी बात यह है कि वस्तुएँ मिलकर भी आत्मरूप नहीं हो जाती हैं, आत्मा से अलग ही, भिन्न ही रहती हैं। जो आत्मरूप नहीं हैं, आत्मा से भिन्न हैं वे पर हैं। पर से आत्मा को सुख की उपलब्धि होना संभव नहीं है। पर पदार्थों से आत्मा को, अपने को सुख की प्राप्ति होती है, ऐसा मानना अपना सुख पर के आधीन मानना है। दूसरे शब्दों में अपने को पराधीन बनाना है। यही नहीं, कामनापूर्ति के समय जिस सुख की प्रतीति होती है वह सुख भी उस समय कामना के न रहने से कामना के अपूर्तिजन्य दुःख के मिट जाने से मिलता है। कामनापूर्ति के समय कामना नहीं रहती अर्थात् कामना का अभाव हो जाता है, कामना का अभाव हो जाने से कामना की उत्पत्ति से पैदा हुई अशांति व दुःख मिट जाता है। अशांति व दुःख के मिट जाने से ही शांति व सुख की अनुभूति होती है। अतः वह सुख भी कामना के अभाव से मिलता है। तात्पर्य यह है कि सुख कामना के अभाव में है, कामनापूर्ति में नहीं। कारण कि कामनापूर्ति के समय वही स्थिति हो जाती है जो कामना उत्पत्ति से पूर्व थी अर्थात् कामना का अभाव था।

सम्यग्ज्ञान-दर्शन का साधना : भेदविज्ञान

आशय यह है कि विषय-भोग का सुख सुखाभास है, मिथ्या है तथा कामनापूर्ति में निमित्तभूत वस्तुओं की उपलब्धि या परपदार्थ सुख-दुःख के कारण नहीं हैं। इस तथ्य का बोध होना ही सम्यग्ज्ञान है। इस बोध के होने में कामनाउत्पत्ति-पूर्ति का चक्र रूप ग्रंथि का भेदन हो जाता है और साधक कामनाओं व कामनापूर्ति में निमित्त वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि पर-पदार्थों से परे हो जाता है। ऐसा होते ही उसे तत्काल निराकुल सुख व शांति की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है, स्वानुभूति व स्वरूप का दर्शन होता है, यही सम्यग्दर्शन है।

स्व-पर का भेद समझकर स्व को पर से भिन्न अनुभव करने को जैन ग्रन्थों में भेद-विज्ञान कहा है। यह भेदविज्ञान ही सम्पूर्ण ज्ञान का सार है। कहा भी है—

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

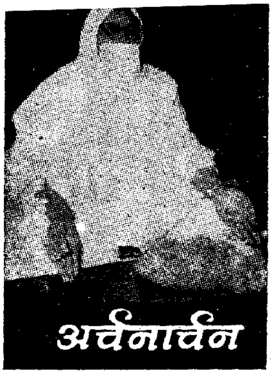

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः ।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तस्यैव विस्तारः ॥ —इष्टोपदेश ५०

अर्थात् जीव शारीरिक पुद्गल से भिन्न है और पुद्गल जीव से भिन्न है, यही ज्ञान का सार है । इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसी का विस्तार है ।

भेदाभ्यास

जिस प्रकार जैनदर्शन में स्व-पर या जड़-चेतन के भेद को भेदविज्ञान कहा है, इसी प्रकार बौद्धदर्शन में संयुक्तनिकाय में आत्मा-अनात्मा के भेद को भेदाभ्यास कहा है । वहाँ स्व के स्थान पर आत्मा शब्द का और पर के स्थान पर अनात्मा शब्द का प्रयोग है । यह आत्मा-अनात्मा शब्द जैनदर्शन के स्व-पर शब्द के ही समानार्थक हैं । जिस प्रकार जैनसाधना में अजीव को जीव मानना मिथ्यात्व कहा है; अजीव अर्थात् पुद्गल निर्मित शरीर, धन, धाम, धरा आदि में जीवन बुद्धि का होना, उनके अस्तित्व से अपना अस्तित्व मानना मिथ्यात्व है और अजीव को जीव (स्व) से भिन्न समझना सम्यग्ज्ञान है । ठीक इसी प्रकार बौद्धदर्शन में अनात्म को स्व (आत्मा) से भिन्न समझना सम्यग्ज्ञान कहा है । जिस प्रकार जैन विचारकों ने तन, मन, इन्द्रिय, वर्ण, गंध, रस आदि को अनात्म कहा और उनमें आत्म-बुद्धि न रखने का निर्देश दिया, उसी प्रकार बौद्ध आगमों में भी इन सब को अनात्म कहा और उनमें आत्म-बुद्धि न रखने पर जोर दिया । दोनों ही परम्पराओं में भेद-ज्ञान या भेदाभ्यास को साधना का सोपान माना है । इसको योगदर्शन में विवेकजज्ञान कहा जा सकता है ।

जिस प्रकार जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन व सम्यग्दृष्टि शब्द का बड़ा महत्त्व है व इसका व्यापक रूप में प्रयोग हुआ है, इसी प्रकार बौद्धदर्शन में भी सम्यग्दर्शन व समदृष्टि शब्द का साधना में बड़ा महत्त्व है तथा व्यापक रूप में प्रयोग हुआ है । योगदर्शन में सम्यग्दर्शन के अर्थ में विवेकख्याति शब्द का प्रयोग हुआ है और उसका महत्त्व जैन बौद्ध दर्शन के समान ही आत्मा, अनात्मा के भेदज्ञान व दर्शन के रूप में स्वीकार किया है ।

चारित्र-साधना : संयम-संवर

यह नियम है कि व्यक्ति अपने ज्ञान और दर्शन अर्थात् विचार और विश्वास के अनुसार ही जीवन में विचरण या आचरण करता है । आचरण या आचार से ही चारित्र-गठन होता है, अतः आचार को शास्त्रीयभाषा में चारित्र कहा गया है । अर्थात् ज्ञान-दर्शन का जीवन में आदर करना—आचरण करना ही चारित्र है ।

चारित्र की आधारशिला या बीज विचार व विश्वास अर्थात् ज्ञान व दर्शन है । यदि ज्ञान-दर्शन सम्यक् है तो चारित्र भी सम्यक् होगा । सम्यक् चारित्र से ही शांति, मुक्ति की प्राप्ति रूप उद्देश्य की सिद्धि होती है, असम्यक् या मिथ्या चारित्र से नहीं । असम्यक् चारित्र को ही पाप कहा जाता है । अतः पाप से विरत होकर पापत्याग का व्रत लेना सम्यक्चारित्र है । सम्यक्चारित्र को जैन व बौद्ध धर्म में संवर, संयम या शील कहा है, योग में यम से प्राणायाम तक कहा है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम-शील-यम

पाप प्राणी के आन्तरिक या आत्मिक विकारों या दोषों का ही अपर नाम है। दोष ही दुःख के कारण हैं। अतः दोषों की वृद्धि से दुःख की वृद्धि, दोषों की कमी से दुःख की कमी एवं दोषों के अभाव से दुःख का अभाव होता है। दोष दो रूप में प्रकट होते हैं, यथा—मानसिक एवं ऐन्द्रियक। मानसिक दोषों को कषाय एवं ऐन्द्रियक दोषों को विषय कहा जा सकता है। ये ही विषय, कषाय समस्त दुःखों के कारण हैं अतः पाप हैं। इनकी अभिव्यक्ति जिन कार्यों में होती है, उन कार्यों को भी पाप कहा जाता है। पाप मुख्यतः पाँच हैं, यथा—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह।

साधक के लिए इनका त्याग अनिवार्य है। कारण कि हिंसा के त्याग से क्रूरता मिटकर मित्रता, आत्मीयता, दया, करुणा, सर्वहितकारी प्रवृत्ति का प्रसार होता है। झूठ के त्याग से अविश्वास मिटकर विश्वास, सत्यता व प्रामाणिकता का प्रादुर्भाव होता है। चौर्यकर्म के त्याग से शक्ति, सम्पत्ति व अधिकार का अपहरण व शोषण मिटकर नैतिकता व समता को बढ़ावा मिलता है। कुशील के त्याग से व्यभिचार, दुराचार मिटकर सदाचार का पोषण होता है। परिग्रह के त्याग से संग्रहवृत्ति, विषमता व संघर्ष मिटकर समता व शांति का विस्तार होता है।

उपर्युक्त दोषों के मिटने से दुष्टता का नाश एवं शिष्टता का पोषण व धर्म का प्रचार व प्रसार होता है। जिससे वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक व राजनैतिक, आर्थिक, आदि जीवन से संबंधित समस्त क्षेत्रों की समस्याएं समाप्त होती हैं व सर्वत्र सुख-शांति का साम्राज्य हो जाता है।

ये पांचों पापरूप दुष्प्रवृत्तियां चित्त को अशान्त बनाती हैं, अन्तःकरण में अन्तर्द्वन्द्व पैदा करती हैं। हृदय में कठोरता, क्रूरता, रुद्रता, जड़ता, निर्दयता, दानवता को जन्म देती हैं। समाज और संसार में संघर्ष, कलह, क्लेश और कष्ट उत्पन्न करने वाली हैं। अतः शांति-प्रेमी साधक के लिए इनका त्याग करना अर्थात् अहिंसा, सत्य, अक्रोध, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपनाना आवश्यक है। जैनधर्म में इन दुष्प्रवृत्तियों के पूर्ण त्याग व व्रत को संयम या महाव्रत और आंशिक त्याग को अणुव्रत कहा है। बौद्धधर्म में पंचशील कहा है, केवल अपरिग्रह के स्थान पर मद्य-निषेध (अमूर्च्छाभाव) कहा है तथा अष्टांगिक मार्ग में प्राणातिपात, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य के त्याग को सम्यक् कर्मान्त में एवं मृषावाद के त्याग को सम्यक् वाचा में स्थान दिया गया है।

जैनदर्शन में जिसे संयम या महाव्रत कहा है, उसी को योगदर्शन में यम (महाव्रत) कहा है; यथा—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। जातिदेशकाल-समयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्।—योगशास्त्र २-३०, ३१। अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच यम हैं और इनका जाति, देश, काल व समय की सीमा से रहित होकर पूर्ण रूप से पालन करना महाव्रत है।

यही नहीं आज जो विश्व के समस्त देशों की सरकारों ने यहाँ तक कि धर्म और ईश्वर का अपलाप करने वाले साम्यवादी विचारधारा वाले देशों के विधानों में भी

आत्मस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य नागरिक के लिए भी हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार और संग्रह-शोषण को दण्डनीय अपराध माना है अर्थात् अनाचार माना है ।

इन दुष्प्रवृत्तियों या दोषों का त्याग मानवमात्र के लिए कर्तव्य है तथा साधक के लिए साधना की भूमिका है । इन दोषों के त्याग के बिना साधना-पथ पर एक कदम भी आगे बढ़ना सम्भव नहीं है । हिंसा, झूठ, चोरी आदि दुष्प्रवृत्तियों में क्रूरता की प्रबलता होने से इनको जैनधर्म में रौद्रध्यान कहा है, जो त्याज्य है ।

इन पाँचों पापों का संसार से सम्बन्ध है । इनमें संसार से सुख लेने व दुःख देने की प्रवृत्ति होती है । सुख लेने से रागात्मक और दुःख देने से द्वेषात्मक सम्बन्ध का बन्ध हो जाता है । जिससे पराधीनता, क्षोभ, अभाव, नीरसता का दुःख होता है । अतः ये प्रवृत्तियाँ पतनकारी हैं, इन्हें जैनधर्म में पाप, बौद्धधर्म में अकुशल कर्म और योग में क्लेश कहा है, तथा पाप, अकुशल कर्म व क्लेश को त्याज्य बताया है । अतः संसार से सम्बन्ध या बन्धन तोड़ने का उपाय है (१) संसार से सुख लेने व दुःख देने का त्याग करना, (२) संसार से प्राप्त वस्तु संसार के भेंट करना अर्थात् अपनी शक्ति, सुविधा व सुख की सामग्री को दुःखियों, दुःख से करुणित होकर उनकी सेवा में लगाना । सेवा से वर्तमान उदयमान राग निर्जीव होता है तथा राग का उदात्तीकरण होकर प्रेम में रूपान्तरण हो जाता है, जो कल्याणकारी है । अतः सेवा को जैनधर्म में पुण्य, बौद्धधर्म में कुशलकर्म एवं योगदर्शन में भावना कहा है एवं अपनी साधनाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है ।

नियम : शिक्षाव्रत

पहले कह आए हैं कि समस्त दोषों व दुःखों से मुक्ति पाना ही मुक्ति या मोक्ष है । समस्त दोषों व दुःखों का मूल है 'विषयसुख' । अतः विषयसुख पर विजय पाना ही मुक्ति की साधना है ।

दोषों के त्याग रूप निषेधात्मक या निवृत्तिरूप साधना तो सहज, स्वाभाविक होती है । इसमें खतरा नगण्यवत् होता है । परन्तु प्रवृत्ति में यह बात नहीं है । प्रवृत्ति बहिर्मुख बनाती है, अतः प्रवृत्ति में साधक को विशेष सजगता की आवश्यकता होती है । कारण कि प्रवृत्ति में पर का आश्रय लेना होता है । पराश्रय स्वाधीनतारूप मुक्ति में बाधक होता है । प्रवृत्ति व प्रवृत्ति का परिणाम विनाशी होता है । विनाशी का संग अविनाशी (अमरत्व) की प्राप्ति में बाधक होता है । प्रवृत्ति से चंचलता, गतिरूप अस्थिरता होती है, जिससे अशांति उत्पन्न होती है जो शांति में बाधक है । प्रवृत्ति में श्रम होता है । श्रम से शक्ति का ह्रास होता है, जिसमें थकान व असमर्थता आती है, जो सामर्थ्य (वीर्य) की बाधक, विघ्न व अंतराय रूप होती है । आशय यह है कि प्रवृत्ति मुक्ति, शांति, अमरत्व व सामर्थ्यरूप उद्देश्य की सिद्धि के लिए विघ्न रूप है तथा प्रवृत्ति से बचने में ही साधक का हित है । अतः साधक के लिए विषयभोग की प्रवृत्तियों का पूर्ण त्याग करना आवश्यक है ।

परन्तु पाँचों इन्द्रियों, मन, वचन, काय इनकी प्रवृत्तियों का सदा के लिए पूर्ण त्याग कर देना संभव नहीं है । कारण कि कान हैं तो शब्द या ध्वनि सुनने का काम करेंगे ही । चक्षु हैं तो देखने की प्रवृत्ति होगी ही । नाक से सूंघने की, जीभ से स्वाद की, मन से चिंतन की, वचन से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोलने की और काया से चलने-फिरने, खाने-पीने की प्रवृत्ति होगी ही। इन प्रवृत्तियों का पूर्ण रोका जाना असंभव है। इनका संवरण ही संभव है। यही इनका संवर या संयम है। संवरण का अर्थ है प्रवृत्तियों को भोगों की ओर जाने से रोकना तथा सीमित, नियमित व व्यवस्थित करना। जैसे आहार में शरीरनिर्वाह के लिए जितनी वस्तुएँ लेनी हैं, जितनी बार लेनी हैं, जिस समय लेनी हैं, जितनी मात्रा में लेनी हैं उसका नियम करना और उस नियम का लेशमात्र भी भंग नहीं करना। संयम में प्रवृत्ति का पूर्ण त्याग होता है और नियम में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सीमा में त्याग होता है। संयम और नियम में यही अन्तर है।

नियम की इसी प्रक्रिया को जैनदर्शन में विधिवत् प्रस्तुत करते हुए आठ संवर, तीन गुणव्रत व चार शिक्षाव्रत का विधान है। स्थानांग के आठवें स्थान में आठ संवर कहे हैं, यथा— (१) श्रोत्रइन्द्रियसंवर (२) चक्षुइन्द्रियसंवर (३) घ्राणइन्द्रियसंवर (४) रसनाइन्द्रिय-संवर (५) स्पर्शनइन्द्रियसंवर (६) मनसंवर (७) वचनसंवर और (८) कायसंवर। इन्हीं आठ संवरों को नियम-बद्ध करने के लिए गुणव्रत व शिक्षाव्रत कहे हैं। भोगों को द्रव्य से नियमित करने के लिए भोगोपभोगपरिमाणव्रत, अतिथिसंविभागव्रत, क्षेत्र व काल से नियमित करने के लिए दिग्व्रत व देशावकासिकव्रत, भाव से नियमित करने के लिए अनर्थदंड-त्याग, सामायिक व पौषधव्रत कहे हैं।

बौद्धदर्शन में इन्हें आठ या दश शील के रूप में कहा है। जिनमें पौषध मुख्य है। पौषध व्रत का स्वरूप व विधान लगभग वैसा ही है जैसा जैनदर्शन में पौषधव्रत का। जैन व बौद्ध दोनों दर्शनों में पौषध (पोषथ) में माला धारण, नृत्य-वादन-संगीत का त्याग, स्वर्ण-रजत आदि के भूषणों व विभूषा का त्याग महार्घशय्या—गद्दा आदि पर शयन का त्याग करना कहा है तथा कृष्ण व शुक्ल इन दोनों पक्षों की अष्टमी व चतुर्दशी तथा अमावस्या व पूर्णिमा इन छः तिथियों में साधक को पोषध या पोषथ करने का विधान बताया है। अतिथिसंवि-भाग के स्थान पर बौद्धदर्शन में भिक्षुसंघ-संविभाग कहा है, परन्तु इन दोनों का भाव एक ही है।

योगदर्शन में 'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' (योग. २-३२) कहा है अर्थात् शौच-पवित्रता-संतोष, समता, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान नियम हैं। यहाँ भी प्रकारान्तर से प्रवृत्तियों के नियमन को ही नियम कहा है।

इन्द्रियों के नियमन से भोगेच्छा का नियमन हुआ, जिससे अप्राप्त मनोज्ञ भोगों को पाने की, प्राप्त मनोज्ञ भोगों को बनाये रखने की, अमनोज्ञ विषयों व रोगादि को दूर करने की इच्छा या प्रवृत्ति का त्याग हुआ। इसी को जैनदर्शन में आर्त्तध्यान का त्याग कहा है। इससे आक्रंदन-रुदन, शोक-चिन्ता, खिन्नता व विलाप रूप दुःख स्वतः दूर हो जाते हैं। बहिर्मुखी वृत्ति रोकने में तथा साधना में सहायक आहार-बिहार, रहन-सहन, भाषण-भ्रमण आदि के सभी नियमों को योगदर्शन में 'नियम' और जैन-बौद्ध साधनाओं में शिक्षाव्रत या शील कहा है।

इस प्रकार संयम या यम-महाव्रत से रौद्रध्यान का और नियम से आर्त्तध्यान का आंशिक निवारण हुआ। जिससे चित्त बहिर्मुखी वृत्तियों से हटकर अंतर्मुखी होने योग्य हुआ। परन्तु अंतर्मुखी होने के लिए शारीरिक स्थिरता एवं मानसिक शांति का होना आवश्यक है।

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शारीरिक स्थिरता के लिए आसन एवं मानसिक शांति के लिए प्राणायाम उपयुक्त उपाय हैं। अतः साधना में आसन और प्रणायाम को भी स्थान दिया गया है।

आसन : तन की स्थिरता

जब तक तन अस्थिर है तब तक चित्त का स्थिर होना कठिन ही है। अतः चित्त को स्थिर करने के लिए तन का स्थिर होना आवश्यक है। तन की स्थिरता है बिना हिले-डुले स्थिरता व सुखपूर्वक बैठना। इसी को आसन कहा गया है, यथा—'स्थिरसुखासनम्' (योग २-४६)।

ध्यान-साधना के लिए पद्मासन, सिद्धासन अथवा अन्य कोई आसन-विशेष आवश्यक हो, ऐसा जैन, बौद्ध एवं योग इन तीनों साधना-पद्धतियों में कहीं नहीं कहा गया है। तीनों ही में स्थिर सुखासन को महत्त्व दिया गया है। यह अलग बात है कि शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से विविध आसनों का भी अपना महत्त्व है। परन्तु ध्यान-साधना के लिए विविध आसनों को जानना व करना आवश्यक नहीं है।

'स्थिरसुखासनम्' सूत्र में 'स्थिर' का अर्थ है शरीर हिले-डुले नहीं और सुखपूर्वक बैठने का अभिप्राय है शरीर में कहीं तनाव न रहे, ऋजु रहे, सारा शरीर शिथिल—ढीला रहे। इसके साथ यह भी ध्यान रहना आवश्यक है कि रीढ की हड्डी सीधी रहे। जिससे निरन्तर चार-पाँच घंटे या अधिक लम्बे समय तक ध्यान में स्थिरतापूर्वक बैठने में कठिनाई न हो।

मौन

आसन है तन की स्थिरता, तन का मौन। इसके साथ वचन की स्थिरता अर्थात् वचन का मौन व मन का मौन भी आवश्यक है। मन की मौन अर्थात् मन की स्थिरता के लिए आगे के प्रकरण में 'प्राणायाम' का विधान किया गया है। ध्यान-साधक के लिए मन, वचन, तन इन तीनों का मौन अनिवार्य है। बौद्धधर्म में इसे आर्य मौन कहा है। मौन 'संवर' का ही द्योतक है।

प्राणायाम : चित्त की स्थिरता

प्राणी का जीवन प्राणशक्ति पर निर्भर है। अतः प्राणी को अपनी प्राण शक्ति व्यर्थ व्यय नहीं करना चाहिये। जैनदर्शन में प्राण दस कहे हैं—(१) श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण (२) चक्षुरिन्द्रियबलप्राण (३) घ्राणेन्द्रियबलप्राण (४) रसनेन्द्रियबलप्राण (५) स्पर्शनेन्द्रियबलप्राण (६) मनोबलप्राण (७) वचनबलप्राण (८) कायबलप्राण (९) श्वासोच्छ्वासबलप्राण और (१०) आयुष्य (जीवनशक्ति) बलप्राण। इन दशों में बल को अर्थात् शक्ति को प्राण कहा है। उक्त इन दस प्राणों की शक्ति का ह्रास न होने देना, ह्रास रोकना प्राणों की रक्षा है, वही प्राणायाम है। प्राणशक्ति का ह्रास होता है प्रवृत्ति से। इसलिए इन सब की प्रवृत्ति या गति पर नियंत्रण रखना है, यही प्राणायाम है।

प्राणों की प्रवृत्ति से हल-चल, चंचलता अस्थिरता होती है, जिससे चित्त की शांति भंग होती है। साधक को अंतर्मुखी होकर पर से स्व तक पहुँचना होता है और अंतर्मुखी होने के लिए चित्त का शान्त होना आवश्यक है। अतः साधक के लिए अंतर्मुखी होने की साधना करते समय इन प्राणों की प्रवृत्ति रोकना आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन प्राणों की प्रवृत्ति का श्वास की गति से सीधा सम्बन्ध है। जैसे ही श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय आदि इन्द्रियां, मन, वचन, काय भोग के लिए प्रवृत्ति करते हैं, वैसे ही श्वास की गति तीव्र हो जाती है। श्वास की गति की तीव्रता-मंदता भोगप्रवृत्ति की तीव्रता-मंदता की द्योतक है। श्वास इनका मापकयंत्र (थर्मामीटर) है। जैसे-जैसे अंत:करण में भोग प्रवृत्ति घटती जाती है, चित्त शांत हो जाता है वैसे-वैसे श्वास स्वत: धीमा-मंद व सूक्ष्म होता जाता है। अत: श्वास इन प्राणों में प्रमुख है तथा प्राणी का जीवन श्वास पर निर्भर करता है, श्वास रुकने पर कुछ क्षणों में मृत्यु हो जाती है, अत: जैनदर्शन ने और साथ ही बौद्ध व योगदर्शन ने भी श्वास को प्राण कहा है और श्वासोच्छ्वास को प्राकृत व पाली भाषा में 'आनापान' कहा है।

योगदर्शन में प्राणायाम का वर्णन करते हुए कहा है—**तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।** —योगदर्शन २-४९। अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति का विच्छेद प्राणायाम है।

यहाँ 'श्वास-प्रश्वास की गति के विच्छेद' का अभिधा में अर्थ करें तो 'श्वास का रोकना' अर्थ होगा। श्वास को रोकना मृत्यु को आमंत्रण देना है। अत: 'श्वास रोकना' अर्थ उपयुक्त नहीं है। यहाँ इस सूत्र का लक्षणा में अर्थ करना उपयुक्त होगा अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति के विच्छेद का अनुभव प्राणायाम है, जैसा कि इसके अगले सूत्र में स्पष्ट कहा है—

'बाह्याभ्यन्तर स्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घः सूक्ष्मः।—योगदर्शन २-५०।

अर्थात् बाह्य-आभ्यंतर और स्तम्भ रूप किस देश (क्षेत्र या स्थान) और किस काल अर्थात् कहाँ पर और कब दीर्घ और सूक्ष्म श्वास का अनुभव होता है, यह प्राणायाम है। योगदर्शन के इन सूत्रों में व अन्यत्र कहीं भी भीतर या बाहर श्वास को रोकने रूप कुंभक करने का निर्देश या विधान का उल्लेख नहीं है।

योगदर्शन के इन सूत्रों के अनुभूतिपरक वास्तविक अर्थों को समझने के लिए बौद्ध-दर्शन के दीर्घनिकाय ग्रंथ के सतिपट्ठान सूत्र में आए 'आनापानसति' प्रकरण को देखना अधिक उपयुक्त होगा। इस प्रकरण में कहा गया है कि 'आनापान साधना' करता हुआ साधक हर आने वाले और जाने वाले श्वास की स्मृति, जानकारी बनाए रखता है। स्वाभाविक श्वास दीर्घ हो तो दीर्घ, ह्रस्व, हो तो ह्रस्व, स्थूल हो तो स्थूल, सूक्ष्म हो तो सूक्ष्म जानता हुआ वह श्वास लेता है, छोड़ता है तथा बाहर जा रहा है तो बाहर जा रहा है, भीतर आ रहा है तो भीतर आ रहा है, जानता है।

नासिका के भीतर व बाहर जाता-आता हुआ श्वास जिसे विषय कर रहा है, छू रहा है, स्पर्श कर रहा है, उस स्थान पर होने वाले अनुभव (संवेदन) का अवलोकन करना आनापान का अंतिम चरण है। इसे ही योगदर्शन में चतुर्थ प्राणायाम कहा है—

बाह्याभ्यंतरविषयाक्षेपी चतुर्थः। योगदर्शन २-५१।

अर्थात् बाह्य और आभ्यंतर—भीतर के विषय का अवलोकन करने वाला चतुर्थ प्राणायाम है।

इस प्रकार देखा जाता है कि योगदर्शन के प्राणायाम सूत्रों और सतिपट्ठान के 'आनापान-

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सति' सूत्रों में अति साम्य है। योगदर्शन के इन सूत्रों का मर्म प्रकट करने में आनापानसति के सूत्र बड़े उपयोगी हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा।

'आनापानसति' के अभ्यास से जैसे-जैसे चित्त श्वास के आवागमन का अवलोकन करते हुए शान्त होता जाता है, वैसे-वैसे श्वास की गति स्वतः धीमी, मंद, सूक्ष्म होती जाती है अर्थात् श्वास की गति का विच्छेद होता जाता है, प्राणायाम सधता जाता है।

प्राणायाम या आनापान से चित्त शांत व स्थिर होता है। चित्त की शांति व स्थिरता को बौद्धधर्म में समाधि कहा है। जैनधर्म के अनुसार यहाँ तक संवर की साधना पूर्ण हुई।

प्रत्याहार-बाह्यतप : कर्म कृश करने की प्रक्रिया

पूर्वोक्त साधना के क्रम में 'नियम' से इन्द्रियों की प्रवृत्तियों का संकोच हुआ और 'प्राणायाम' से इन्द्रियों की प्रवृत्तियों को रोका गया। इस प्रकार इन्द्रिय विषयों से नवीन राग (कर्म-संस्कार) उत्पन्न होना रुका तथा इन्द्रियों का विषयों के सम्मुख होना रुका, इससे नवीन कर्म-बंध होना रुका अर्थात् संवर की प्रक्रिया हुई। परन्तु वर्तमान में जो राग विद्यमान है, उसके क्षय के लिए उसे कसना, कृश करना आवश्यक है। विषयों के विद्यमान राग को कृश करने की, विषयों से विमुख होने की प्रक्रिया को तप कहा जाता है।

जैनदर्शन में तप दो प्रकार का कहा है—बाह्यतप और आभ्यंतर तप विषयों से विमुख होने की, उन्हें कृश करने की क्रिया बाह्यतप है। बाह्यतप के छः भेद हैं— अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिप्रत्याख्यान, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग कायक्लेश और प्रतिसंलीनता।

१. **अनशन**—आहार न करना अनशन कहा जाता है। आहार त्याग से यहाँ अभिप्राय रसनेन्द्रिय के आहार—अन्न-जल आदि भोजन का त्याग तो है ही, साथ ही शेष इन्द्रियों कान, आँख, नाक, स्पर्शन के आहार, भोग्य-विषय—श्रवण, दर्शन, सूँघना आदि का त्याग भी है। अर्थात् तप के संदर्भ में आहार का अर्थ इन्द्रियों द्वारा भोग्यसामग्री का भोग करना है और आहारत्याग का अर्थ इनके भोगों का त्याग करना है।

२. **ऊनोदरी**—जीवनपर्यन्त अनशन नहीं किया जा सकता। शरीर और इन्द्रियों को आहार की आवश्यकता होती ही है। अतः जब आहार करना ही पड़े तो आहार अर्थात् भोग्य सामग्री का भोग जितना कम कर सके, उतना कम करना ऊनोदरी तप है।

३. **वृत्तिप्रत्याख्यान**—जो भोजन करना पड़े, उसमें भी वृत्तियों का संकोच करना चाहिए अर्थात् विविध प्रकार के रसों के भोग करने की वृत्तियों को त्यागना वृत्तिप्रत्याख्यान है। इसका दूसरा नाम भिक्षाचरी है, जिसका अर्थ है आहार लेने में अपना संकल्प (वृत्ति) न रखना। भिक्षा में अर्थात् सहज में जो आहार मिल जाये उसे ग्रहण करना।

४. **रसपरित्याग**—वृत्तियों को सीमित कर जो भोजन ले रहे हैं, उस भोजन में भी स्वाद या रस नहीं लेना, समभाव, उदासीनभाव से उसे ग्रहण करना।

५. **कायाक्लेश**—काया पर आने वाले सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि कष्टों से अपने को न बचाना, उनसे भय न करना, उन्हें समभावपूर्वक सहन करना।

६. **प्रतिसंलीनता**—बाहरी विषयों में गई चित्त-वृत्ति को मोड़कर पुनः निज स्वरूप में संलीन करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपर्युक्त छहों तप भोगों के राग को क्रमशः कृश करते हुए बाहर से भीतर की ओर, स्व की ओर लौटने की प्रक्रिया है, इसे प्रतिक्रम भी कहा जा सकता है। विषयों से विमुख होने व उन्हें कृश करने की इस प्रक्रिया को योगदर्शन में प्रत्याहार कहा है, यथा—स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्॥—योगदर्शन ५४-५५। अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ संबंध न होने (रहने) पर चित्त का स्वरूप के अनुकरण या अनुशरण करना प्रत्याहार है अथवा इन्द्रियों का अपने आहार-सुनाना, देखना आदि विषयों से वापिस मुड़कर विमुख होकर स्व में लौट आना प्रत्याहार है। उस प्रत्याहार से इन्द्रियों का उत्कृष्ट वशीकरण होता है। आशय यह है कि बाहर दौड़ती हुई इन्द्रियों की वृत्तियों को केन्द्राभिमुख करना, केन्द्र में समेटना प्रत्याहार है। बौद्धदर्शन में इसे कायानुपश्यना में स्थान दिया जा सकता है।

धारणा अंतर्मुखी अवस्था

बाह्यतप या प्रत्याहार से चित्त निज केन्द्र की ओर अभिमुख हो गया, स्व में स्थित रहने के योग्य हो गया। इससे आगे की साधना अंतर्मुखी अवस्था के विभिन्न स्तरों से सम्बन्धित है, जिसे जैनदर्शन में आभ्यंतर तप कहा है। आभ्यंतर तप छह हैं—प्रायश्चित, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग।

प्रायश्चित—षट्खंडागम की धवलाटीका में प्रायः शब्द को लोकवाची कहा है। अतः चित्त का अपने लोक में अर्थात् देह में स्थित होना, देह से बाहर न जाने देना, स्व में रमण करना प्रायश्चित है।

विनय—अपने भीतर रमण करते हुए—परिक्रमा करते हुए संवेदनाओं के प्रति केवल द्रष्टा रहना, कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव रूप अहंभाव न आने देना विनय है।

वैय्यावृत्य—भीतर में जहाँ कहीं भी चेतना पर आवरण हो, जड़ता हो, ग्रंथि हो, उसे वेध कर व धुन कर बिखेर देना, गला देना वैय्यावृत्य है।

स्वाध्याय—भीतर ही भीतर स्व का अवलोकन करना, स्व में उत्पन्न हुए दोषों को दूर करना स्वाध्याय है।

उपर्युक्त आंतरिक स्थितियों को योगदर्शन में धारणा कहा जा सकता है। जैसा कि कहा है—**देशबन्धाश्चित्तस्य धारणा**।—योग. ३-२। चित्त को किसी देश (स्थान) विशेष में बाँधना, अर्थात् अपनी देह के भीतर बाँधना, ठहराना, रोकना धारणा है। मन को अपने में ही धारण किए रहना, देह से बाहर न जाने देना धारणा है।

ध्यान—ध्यान पूर्णतः अंतर्मुखी होने की साधना है। इसमें अंतर्मुखी हो अपने अंतर में, देह के भीतर जहाँ चेतना व्याप्त है, वहाँ जो स्व-संवेदन रूप अनुभव हो रहा है उसे तटस्थ-भाव से, समभाव से देखना है, अनुकूल वेदना के प्रति राग और प्रतिकूल वेदना के प्रति द्वेष नहीं करना है। इस प्रकार राग-द्वेष रहित समभाव में रहते हुए केवलदर्शन, केवलज्ञान प्राप्त करना है।

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यानावस्था में भीतर में स्थित पूर्वकृत भोग-विकार उदीरित होकर उदय में आते हैं या ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ, विभूतियाँ प्रकट होती हैं। इन सब के प्रति अपनी ओर से कुछ नहीं करना है न इन्हें बुरा मानना है, न अच्छा मानना, न समर्थन या सहयोग करना है और न विरोध या प्रतिरोध करना है, केवल तटस्थ रहना है, ज्ञाता-द्रष्टा रहना है। इससे कर्म त्वरित गति से उदय में आते हैं, वे कर्म सघन व जड़तायुक्त होते हैं। उन कर्मों की सघनता, जड़ता को दूर करने के लिए उनका वेधन करना है, उन्हें धुनना है। जिस प्रकार रुई को धुनने से उसके तार बिखर जाते हैं, रुई की सघनता मिट जाती है, फिर उन तारों में बल व मल नहीं रहता है, वे हल्के होकर तितर-बितर हो जाते हैं, इसी प्रकार ध्यान-साधना कर्म धुनने की प्रक्रिया है। जिससे कर्म खंड-खंड होकर बिखर जाते हैं, क्षय हो जाते हैं। इससे सघनता व जड़ता मिटकर चिन्मयता का बोध होता है।

ध्यानप्रक्रिया

यहाँ हम ध्यान की प्रक्रिया को बौद्धदर्शन की 'विपश्यना' ध्यान-साधना तथा जैन-दर्शन के 'धर्मध्यान' के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर रहे हैं। आनापानसति के अभ्यास से, श्वासोच्छ्वास को देखने से चित्त कुछ समय के लिए बार-बार एकाग्र, शान्त व विकल्प-रहित हो जाय तथा नासिका के अग्रभाग पर श्वास के आवागमन के कारण होने वाली संवेदना का अनुभव हो। तदनतर ध्यान की प्रक्रिया प्रारम्भ की जाय, जो इस प्रकार है—

सर्वप्रथम नासिकाग्र की संवेदना पर एकाग्र हुए चित्त को और अधिक गहरा शांत करके मस्तिष्क पर स्थित तालुरंध्र पर लगाया जाय। जिससे तालुरंध्र पर होने वाली संवेदना का अनुभव होता है। फिर शनैः शनैः मन को खिसकाकर तालुरंध्र के चारों ओर मस्तिष्क पर लगाया जाय, इससे मस्तिष्क पर होने वाली संवेदना का अनुभव होगा। फिर मन को मस्तिष्क से आगे बढ़ाते हुए क्रमशः ललाट, भौंहों, पलकों, बरौनियों, नासिका, दोनों गाल, कान, टोडी पर लगाया जाय एवं दाहिने हाथ के कंधे, भुजा, हाथ, कलाई, हथेली, अंगुलियों के पैरवों, पर मन को लगाया जाय। इसी प्रकार बांयें हाथ के कंधे से पैरवों तक मन को लगाया जाय। तदनन्तर गला, सीना, पेट व समस्त सामने के शरीर के भाग पर मन को लगाया जाय। फिर गर्दन, पीठ, कमर पर, पूरे शरीर के पीछे के भाग पर मन को लगाया जाय। फिर दाहिने पैर के कूल्हे, जंघा, घुटना, पिण्डली, एडी, फाबा व अंगुलियों व उनके पैरवों तक लगाया जाय, तदनन्तर बायें पैर में भी इसी क्रम से मन को लगाया जाय।

इस प्रकार मन देह में सिर से पैर के पैरवों तक चलता ही रहे और जहाँ-जहाँ जो व जैसी संवेदनाएं उस क्षण हो रही हैं, उनको देखता रहे। उन संवेदनाओं के प्रतिक्षण बदलाव का अनुभव कर 'वे अनित्य हैं' इस अनुभूतिपरक बोध से समता को पुष्ट करता रहे। संवेदना अनुकूल हो या प्रतिकूल, सुखद हो या दुःखद अथवा असुखद-अदुःखद, उनके प्रति समता बनाये रखें, हर्ष-शोक न करें।

ध्यान की इस प्रक्रिया में पहले अपने स्थूल शरीर की उपरी सतह पर प्रकट होने वाली संवेदनाओं का अनुभव होता है। उनके प्रति समभाव रखने से अर्थात् समताभाव पुष्ट होने से चित्त स्वतः अधिक से अधिक शान्त, सूक्ष्म व तीक्ष्ण होता जाता है। चित्त के सूक्ष्म व तीक्ष्ण होने से शरीर में सिर से लेकर पैर तक के भीतरी भाग में प्रकट होने वाली सूक्ष्म संवेदनाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अनुभूति होने लगती है। जिससे अपने भीतर पड़े हुए चेतन-अर्द्धचेतन-अवचेतन के स्तर पर पूर्वसंचित कर्म-संस्कार प्रकट होकर सामने आने लगते हैं। संस्कार संवेदनाओं के रूप में उदय, क्षीण व नष्ट, निर्जरित होने लगते हैं। समताभाव से तटस्थभाव से राग-द्वेष रूप प्रतिक्रिया रहित देखने से नवीन संस्कारों (कर्मों) का निर्माण तो प्रायः रुक ही जाता है। साथ ही पुराने संस्कार निर्जरित होने लगते हैं, टूटने लगते हैं। इससे अपने भुक्त-भोगों के प्रति राग-द्वेष या ममता करके तथा नवीन कामनाएँ पैदा करके जिन संस्कारों का, कर्मों का, मानसिक ग्रन्थियों का सर्जन किया था, उनका विसर्जन होने लगता है। अपने बारे में जो धारणाएँ, प्रतिमाएँ (images) थीं, वे टूटने लगती हैं, अहंकार विगलित होने लगता है। इस अहंकार का टूटना, गलना ही जैनधर्म में विनय तप कहा है और भीतर स्थित स्थूल संवेदना पर समतायुक्त तीक्ष्ण चित्त को एकाग्र करने से उन संवेदनाओं का बेधन होने लगता है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में आकाश में बादल बिखर कर गलते हैं, वैसे ही संवेदनाएँ, व साथ ही उनके संस्कार बिखर कर विगलित होने लगते हैं। संवेदनाओं को व संस्कारों (कर्मों) को धुनने की इस प्रक्रिया व प्रयास को जैनधर्म में वैयावृत तप व बौद्धधर्म में सम्यक् व्यायाम कहा गया है। इसके आगे ध्यान की क्रिया में जब सब स्थूल संवेदनाएँ और सूक्ष्म हो जाती हैं और सूक्ष्म संवेदनाएँ गलकर विसर्जित हो जाती हैं तो स्वानुभूति होती है, निजस्वरूप का बोध होता है, वह स्वाध्याय है। इस प्रकार ध्यान की पूर्वावस्था में प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय रूप आभ्यान्तर तप से स्थूल व सूक्ष्म शरीर की समस्त संवेदनाएँ तरंगवत् हो जाती हैं। फिर तरंगें भी विसर्जित हो जाती हैं तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर का या काया का अस्तित्व ही अनुभव नहीं होता है, चेतना आकाशवत् शून्य रूप निर्मल हो जाती है। ऐसी कायातीत, देहातीत अवस्था को जैनदर्शन में कायोत्सर्ग कहा जाता है। योगदर्शन में इसे समाधि कहा जाता है, यथा—**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।** —योग. ३-३। अर्थात् वही ध्यान जब अर्थ (वस्तु) मात्र के भास से रहित हो स्वरूप से शून्य (आकाश) वत् हो जाता है, इसे ही समाधि कहा जाता है। बौद्धदर्शन में इसे स्रोतापन्न या सकदागामी कहा जा सकता है।

विपश्यना : धर्मध्यान

जैनदर्शन में धर्मध्यान चार प्रकार का है—(१) आज्ञाविचय (२) अपायविचय (३) विपाक-विचय (४) संस्थानविचय। ध्यान-साधना में अंतर्यात्रा करते हुए शान्त चित्त से अंतर्जगत की यथार्थता को देखकर सत्य का दर्शन करना आज्ञाविचय है, अपने अंतस् में उठने वाले राग, द्वेष आदि विकारों दोषों, अपायों को देखना अपायविचय है। इन विकारों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होने वाली चित्त की स्थितियों व संवेदनाओं को देखना विपाकविचय है। विपश्यना ध्यानपद्धति में आज्ञाविचय को सम्यग्दर्शन, अपायविचय को कायानुपश्यना, विपाकविचय को वेदनानुपश्यना तथा चित्तानुपश्यना कहा जा सकता है।

जैसे बीज से फल और फल से बीज की उत्पत्ति का क्रम या चक्र चलता ही रहता है, इसी प्रकार राग-द्वेष आदि विकारों (अपायों) के संस्कार रूप बीज से वेदना (संवेदना) रूप परिणाम, फल (विपाक) उत्पन्न होता है। उस विपाक में अनुकूल वेदना, संवेदना के प्रति राग, प्रतिकूल वेदना, संवेदना के प्रति द्वेष करने से पुनः संस्कारों (कर्मों) का बीज वपन होता है, वे कर्म संवेदनाओं के रूप में उदय आकर फल देते हैं। इस प्रकार विकार-उत्पत्ति और

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

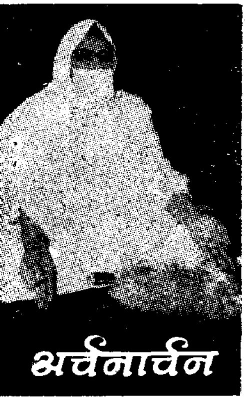

उसके परिमाण रूप कर्म के बंध व उदय का चक्र चलता ही रहता है। यह नैसर्गिक विधान (नियम) है। ध्यान में इस विधान का साक्षात्कार होता है, उसे धर्मध्यान में संस्थानविचय और विपश्यना में धर्मानुपश्यना कहा है।

संस्थानविचय या धर्मानुपश्यना में साधक प्रकृति के इस तथ्य का साक्षात्कार करता है कि अपने भीतर कामना, वासना, राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि विकार उत्पन्न होते ही पूरे शरीर के नाड़ीतन्त्र में एक तनाव पैदा होता है और शरीर के श्वसन, पाचन आदि सभी तंत्रों पर उसका प्रभाव पड़ता है। क्रोध उत्पन्न होते ही मस्तिष्क में तनाव पैदा होता है, सिर में दर्द होने लगता है, आँखें लाल हो जाती हैं, सारे शरीर का रक्तचाप बढ़ जाता है। चिन्ता हुई तो हृदय की धड़कन बढ़ जाती है, हृदय बैठने लगता है, कभी-कभी हृदय की गति रुक कर मृत्यु तक हो जाती है। भय उत्पन्न होने पर उसका प्रहार उदर व आमाशय पर होता है। पेट सिकुड़ने लगता है दस्तें हो जाती हैं। खुले जंगल में शेर के भय से अच्छे-अच्छे पहलवानों को कपड़ों में दस्तें लगते देख जाती हैं।

अभिप्राय यह है कि ऐसा कोई विकार नहीं है जिसके कारण चित्त में व शरीर में संवेदना प्रकट न हो, विषमता न हो, आकुलता न हो। दिन में जितनी बार (सैंकड़ों बार) विषय-कषाय रूप विकार उठते हैं और उतनी ही बार चित्त के साथ शरीर में नखशिखान्त तनाव आ जाता है। जिसे दिन में जितनी बार चिंता हुई, क्रोध आया, भय लगा, उतनी ही बार उसका हृदय, यकृत, गुर्दा, पाचनसंस्थान, रक्तसंस्थान आदि सब प्रभावित होंगे ही तथा शरीर की रासायनिक प्रक्रिया भी प्रभावित होगी। (इसका विशेष वर्णन लेखक की आध्यात्मिक चिकित्सा के मन से तन सर्जन, प्रकरण में द्रष्टव्य है)।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक विकार या विचार (भावात्मक आवेग) चित्त में तनाव और शरीर पर दबाव पैदा करता है। हम सदैव इन तनावों और दबावों से पीड़ित रहते हैं। विकारग्रस्त व्यक्ति तनाव-त्रस्त तथा दबाव-ग्रस्त होगा ही। अतः तन-मन के इस तनाव, दबाव व द्वन्द्व से मुक्ति का एक ही उपाय है—अपने को निर्विकार बनाना।

ध्यानावस्था में समताभाव से अर्थात् यथाभूत तथागत दृष्टि से सत्य का साक्षात्कार (आज्ञाविचय) करते हुए दोषों की उत्पत्ति (अपायविचय) और उनके विपाक (विपाकविचय) तथा उनसे संबंधित नैसर्गिक नियमों (संस्थानविचय) को अनुभव करने से निर्विकार-निर्दोष अवस्था व शांति—मुक्ति का महत्त्व व ज्ञान हो जाता है, जो विकारों को उपशान्त व क्षय करने में सहायक होता है, जिससे कर्त्ता व भोक्ता भाव गलता है तथा तन, मन शान्त व विश्रान्त अवस्था की स्थिति को प्राप्त होते हैं। फलतः तनाव व दबाव से मुक्ति मिलती है।

धर्मध्यान के पश्चात् शुक्लध्यान में प्रवेश होता है। शुक्लध्यान चार प्रकार का कहा है— (१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार (२) एकत्व-वितर्क-अविचार (३) सूक्ष्म-क्रियाऽप्रतिपाती और (४) समुच्छिन्न-क्रियानिवृत्ति। योगदर्शन में समापत्ति के चार प्रकार कहे हैं— (१) सवितर्का (२) निर्वितर्का (३) सविचारा और (४) निर्विचारा तथा बौद्धदर्शन में ध्यान के चार प्रकार कहे हैं—(१) सवितर्क-सविचार-विवेकजन्य प्रीति सुखात्मक (२) वितर्क विचाररहित समाधिज प्रीतिसुखात्मक (३) प्रीति-विराग से उपेक्षक हो स्मृति और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्प्रजन्य युक्त उपेक्षा स्मृति सुखबिहारी (४) सुख-दुख एवं सौमनस्य-दौर्मनस्य से रहित असुख-अदुःखात्मक उपेक्षा एवं परिशुद्धि से युक्त ।

उपर्युक्त ध्यान के विषय में जैन, योग और बौद्ध इन तीनों परम्पराओं के भेदों में थोड़े से शाब्दिक अंतर के साथ अत्यधिक साम्य है। विस्तार भय से इसका यहां विवेचन नहीं किया जा रहा है।

ध्यान के विघ्न व उनका निवारण

ध्यान की इस प्रक्रिया में कार्मण शरीर या अवचेतन चित्त में स्थित भुक्तभोग और अभुक्त-कामनाओं के जो संस्कार अंकित हैं, वे ध्यान के समय अंतर्मुखी होने पर उभर-उभर कर (उदीरणा होकर) उदय होते हैं, प्रकट होते हैं। साधक इन्हें देखकर घबरा जाता है और मेरा चित्त अशांत हो गया, ऐसा समझकर चित्त को कोसने लगता है, बुरा-भला कहने लगता है। उसे बलपूर्वक दबाने या रोकने का प्रयत्न करता है। परिणाम यह होता है कि वह चित्त से युद्ध करने में ही उलझ जाता है, अटक जाता है, आगे नहीं बढ़ पाता है, अपनी शक्ति का व्यर्थ अपव्यय करने लगता है।

उपर्युक्त स्थिति में साधक को समझना चाहिये कि चित्त में जो सिनेमा की रील की तरह चित्र चल रहे हैं, वे अवचेतन में अंकित पुराने संस्कार (कर्म) हैं, जो नष्ट होने के लिए उदय (प्रकट) हो रहे हैं। यदि साधक उनके प्रति उपेक्षा भाव बरते, असहयोग रखे, चित्त में उदित चित्रों की पूर्ति न करे, उनका समर्थन व विरोध न करे, उन्हें बुरा न माने, उनके प्रति द्वेष न करे, उन्हें साहस और धैर्य के साथ केवल देखता रहे, साथ ही संवेदनाओं का अनुभव भी करता रहे (संवेदनाओं का अनुभव न करना द्रष्टाभाव का द्योतक है) तो चित्त के इन चित्रों का दिखाई देना धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है। कारण कि संस्कार या कर्म अनन्त नहीं है, सान्त है। अतः धैर्य और गंभीरतापूर्वक देखते चले जायें तो बड़ी द्रुत व त्वरित गति से पूर्व में अंकित सबल संस्कारों के चित्र चित्त पर प्रकट होकर नष्ट हो जाते हैं और शेष रहे संस्कार क्षीण (अपवर्तित) होकर स्वतः नष्ट हो जाते हैं।

ध्यान की उपर्युक्त प्रक्रिया में चक्रभेदन, कुंडलिनीजागृति, दिव्यज्योति, दिव्यध्वनि, अपने इष्टदेव का दर्शन आदि अनेक विलक्षण विभूतियों का प्रकट होना संभव है। ये विभूतियां बड़ी आकर्षक होती हैं। अतः साधक इनके सुखों का भोग करने लगता है, इन्हें छोड़ना नहीं चाहता है। साधक असावधानी से इन्हें ही परमात्म-दर्शन, प्रभु-साक्षात्कार मानने लगता है। फलस्वरूप वह इन्हीं में रमण करने लगता है और वहीं अटक जाता है, उसकी प्रगति रुक जाती है। यदि साधक इनमें अटके नहीं, विभूतियों के प्रवाह में बहकर भटके नहीं, तटस्थ भाव से इनका द्रष्टा रहे, इनके सुख का भोग नहीं करे तो इन विभूतियों-अनुभूतियों को पार कर इनसे परे पहुँच जाता है।

अंतर्यात्रा के पथिक साधक को मार्ग में रमणीय स्थल मिलें, इसमें कौनसी विचित्र बात है। पर साधक इनके साथ अहंभाव जोड़कर जुड़ जाता है, उन्हें अपनी उपलब्धि मान लेता है और समझने लगता है कि मुझे गुरु के दर्शन हुए, भगवान् के दर्शन हुए, मैं सौभाग्यशाली हूँ, यह अनुभूति सदैव बनी रहनी चाहिए तो वह अतीन्द्रिय विभूति परिग्रह बन जाती है। परिग्रह

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

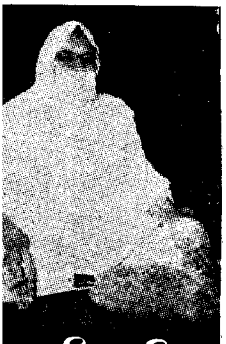

चाहे संपत्ति का हो, प्रतिष्ठा का हो, पद का हो, भौतिक हो, आधिदैविक हो, आभ्यंतरिक हो, अतीन्द्रिय विभूतियों का हो, परिग्रह तो परिग्रह ही है, त्याज्य ही है। अतीन्द्रिय विभूतियों का परिग्रह कोई पवित्र नहीं हो जाता। आशय यह है कि विभूतियाँ, ऋद्धियाँ, सिद्धियाँ साधक को अटका व भटका सकती हैं। अतः साधक को इनसे सावधान रहना चाहिये। यदि साधक इनमें अटके-भटके नहीं तो इनका दिखना पीछे रहे जाता है और वह आगे बढ़ जाता है।

मुक्ति-अमरत्व-निर्वाण

पहले कह आए हैं कि साधना का लक्ष्य या फल मुक्ति, अमरत्व व निर्वाण रूप साध्य को प्राप्त करना है, जिसका उपाय है वीतरागता अर्थात् राग का त्याग। विनाशी के राग के त्याग से अमरत्व, पर के राग के त्याग से मुक्ति, संस्कार (कर्म) के राग के त्याग से निर्वाण की अनुभूति या उपलब्धि होती है। जैसा कि मुक्त (सिद्ध) जीवों का वर्णन करते हुए जैनदर्शन में कहा है—

जह सव्वकामगुणियं, पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोइ।
तण्हाछुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो॥
इय सव्वकालतित्ता, अतुलं निव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहं, चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता॥
सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य, पारगय त्ति य परंपरगय त्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य॥
णिच्छिणसव्वदुक्खा, जाइजरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं, अणुहोंती सासयं सिद्धा॥

(औपपातिकसूत्र—गाथा सं. १८, १९, २०, २१)

अर्थात् जिस प्रकार सर्व प्रकार से अभीसिप्त गुण वाले भोजन को करके मनुष्य भूख एवं प्यास से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार (सिद्ध) अमृत से तृप्त होकर विराजते हैं। वे अतुल निर्वाण को प्राप्त कर सब कालों में तृप्त रखते हैं तथा शाश्वत एवं अव्याबाध सुख को प्राप्त कर सुखी रहते हैं। वे सिद्ध, बुद्ध, पारंगत और परम्परागत (परम्परा से पार गये हुए) कहलाते हैं। कर्मदल से उन्मुक्त होकर वे अजर, अमर एवं असंग हो जाते हैं, सब दुःखों से रहित होकर वे जन्म, जरा, मरण एवं बंधन से मुक्त हो जाते हैं तथा वे सिद्ध अव्याबाध एवं शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं। इसी का समर्थन बौद्धदर्शन में भी किया है।

इदमजरं इदममरमिदमजरामणपदमसोकं।
असपत्तं असम्बाधमक्खलितमभयं निरपतापं॥
अधिगतमिदं बहूहि अमृतं अज्जापि च लभनीयमिदं। —थेरीगाथाएं ५११-५१३

अर्थात् यह अजर है, यह अमर है, जरा और मरण से विमुक्त पद है। यह शोक रहित है। यहाँ कोई अभाव नहीं, बाधा नहीं, स्खलन नहीं, भय नहीं, ताप नहीं। बहुतों ने इस अमृत को प्राप्त किया है और आज भी यह प्राप्त किया जा सकता है।

संयुक्त-निकाय में कहा है—

असंखतं वो भिक्खवे देसिस्सामि सच्चञ्च....पारञ्च....अजरञ्च....धुवञ्च.... निप्पपञ्चञ्च....अमतञ्च....सिवञ्च....खेमञ्च....अब्भुतञ्च....विसुद्धिञ्च........दीपञ्च........ ताणञ्च वो भिक्खवे देसिस्सामीति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् भगवान् बुद्ध ने एक बार अपने भिक्षु-शिष्यों को संबोधित करके कहा—भिक्षुओ ! अब मैं तुम्हें असंस्कृत (कर्मरहित अवस्था) के विषय में देशना दूंगा । सत्य का.... पार का....अमर का... ध्रुव का....निष्प्रपंच का....अमृत का ...शिव का....क्षेम का.. . अद्भुत का....विशुद्धि का....द्वीप का....त्राण का उपदेश दूंगा ।

इस प्रकार बौद्धदर्शन में अमृत (अमरत्व), ध्रुव, मुक्ति, निर्वाण प्राप्ति का संयुक्त-निकाय, सुत्तनिपात, महामालुंक्यसुत्तन्त आदि ग्रन्थों में सैकड़ों स्थलों पर उल्लेख है ।

इसे ही योगदर्शन में कैवल्य प्राप्ति व समाधि के रूप में प्रस्तुत किया है । यथा—**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।**—कैवल्यपाद ३३। अर्थात् पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लीन होना कैवल्य है अथवा चिति शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है । और भी कहा है—

तस्यापि निरोधे सर्व निरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ समाधिपाद-५१ । अर्थात् पर-वैराग्य द्वारा उस ऋतम्भरा प्रज्ञाजन्य संस्कार के भी निरोध हो जाने पर पुरातन सब संस्कारों के निरोध हो जाने से निर्बीज समाधि होती है । इसी को निरालम्ब्य तथा असम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं ।

उपर्युक्त तीनों साधनाओं का आधार है पर से स्व की ओर आना अर्थात् बहिर्मुखी से अंतर्मुखी होकर स्व में स्थित होना । अथवा स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढते हुए सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम स्तर तक पहुँच कर परम शुद्ध कैवल्य (शुद्धतम) अवस्था को प्राप्त हो जाना ।

बाहर से अंदर की ओर आने का क्रम है संसार, विषय वस्तुएँ, स्थूल (औदारिक) शरीर, सूक्ष्म शरीर (चित्त व तैजस) एवं कारण (कार्मण) शरीर तक पहुँचना, फिर इन शरीरों के परे की अवस्था का अनुभव करना ।

यह नियम है कि जो ठहरता नहीं है, रुकता नहीं है वह ही आगे बढ़ता है । ठहरना व रुकना वहीं होता है जहाँ पर रस लेना, रमण करना, संग करना होता है अर्थात् संबंध जोड़ना होता है । अतः रस न लेने, रमण न करने, असंग होने, संबंध विच्छेद करने से ही आगे बढ़ना होता है । आगे बढ़ना ही प्रगति करना है । अतः साधना में प्रगति करने का सूत्र है साधना-मार्ग में आने वाले रमणीय स्थलों, अवस्थाओं में रस न ले, इनसे संबंध न जोड़े तथा जिनसे संबंध जोड़ रखा है, उनसे संबंध-विच्छेद कर दे और क्रमशः आगे बढ़ता जाय, यही साधना की प्रक्रिया है, कुंजी है ।

साधक को सर्वप्रथम संसार से संबंध-विच्छेद करने के लिए (१) संयम, (२) यम (महाव्रत), (३) पंचशील स्वीकार करना चाहिये ।[१] फिर विषयों के भोग व भोग्य वस्तुओं से संबंध-विच्छेद करने के लिए (१) शिक्षाव्रत व संवर, (२) नियम, (३) शिक्षाव्रत या दश शील ग्रहण करना चाहिये । तदनंतर स्थूल (औदारिक) शरीर से संबंध-विच्छेद करने, हलचल रोकने के लिए (१) ध्यानमुद्रा, (२) आसन, (३) ध्यानावस्था में बैठना चाहिये । सूक्ष्मशरीर अर्थात् चित्त की बहिर्मुखी वृत्ति रोकने के लिए (१) आरंभत्याग, (२) प्राणायाम, (३) आनापान-

१. उपर्युक्त विवेचन में (१) में जैनदर्शन की साधना को, नंबर (२) में योगदर्शन की साधना को और नंबर (३) में बौद्धदर्शन की साधना को प्रस्तुत किया गया है ।

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाधि का अभ्यास करना चाहिये। तत्पश्चात विद्यमान व उदयमान भोगवृत्तियों से असंग होने के लिए, उन्हें कृश करने के लिए (१) बाह्य तप (२) प्रत्याहार (३) कायानुपश्यना-वेदनानुपश्यना को अपनाना चाहिये। फिर चित्त का शोधन करने के लिए (१) प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय तप, (२) धारणा, (३) चित्तानुपश्यना करना चाहिए। तदनंतर कारण (कार्मण) शरीर से असंग होने के लिए (१-२) ध्यान, (३) धर्मानुपश्यना करना चाहिए और अन्त में देहातीत होने के लिए (१) कायोत्सर्ग, (२) संप्रज्ञातसमाधि, (३) भवांग ध्यान करना उपयुक्त है। फिर कैवल्यप्राप्ति के लिए (१) शुक्लध्यान, (२) समापत्ति, (३) सवितर्क-सविचार आदि चारों ध्यान करना होता है।

इस प्रकार ऊपर वर्णित बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने की साधना में जैनदर्शन में वर्णित ज्ञान, दर्शन, चारित्र (संवर) और तप रूप साधना का, बौद्धदर्शन में वर्णित शील, समाधि, प्रज्ञा, अष्टांगिक मार्ग का, योगदर्शन में वर्णित अष्टांग योग का समावेश हो जाता है। इन तीनों साधनाओं का लक्ष्य कैवल्य की उपलब्धि कराते हुए निर्वाण तक पहुँचना है। इन तीनों साधनाओं का हार्द या प्राण वीतरागता है, ये तीनों वीतराग मार्ग का समर्थन व अनुसरण करती हैं। वीतराग साधना के ही ये तीन रूप हैं। वीतरागता का सिद्धान्त तीनों साधनाओं को समान रूप से स्वीकार्य है। इसके संबंध में इनमें कहीं अन्तर नजर नहीं आता। इनमें जो अन्तर दिखाई देता है वह इनके विभाजन व वर्गीकरण का है। किसी भी साधना-प्रक्रिया का विभाजन या वर्गीकरण अनेक प्रकार से हो सकता है। उससे मूल वस्तु में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

लेखक द्वारा उपर्युक्त तीनों साधनाओं का प्रस्तुत किया गया साम्य बहुत ही स्थूल व मोटे रूप से है। इसे केवल संकेतात्मक ही समझना चाहिए, निश्चयात्मक व निर्णयात्मक नहीं। महत्त्व इन साधनों के वर्गीकरण या साम्य का नहीं है। महत्त्व है वीतरागता का। जो भी वीतराग पथ है, जिससे राग गलता है, घटता है, दूर होता है तथा वीतरागता की ओर प्रगति होती है, वही साधना है। वीतराग मार्ग नैसर्गिक नियमों पर आधारित है, अतः यह सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक सत्य है, यह किसी संप्रदाय, जाति, वर्ण, वाद व परम्परा से बंधा नहीं है। जो भी इसे अपनाता है उसका कल्याण होता है, उसे तत्काल शांति, मुक्ति, प्रसन्नता की अनुभूति होती है, इसके विपरीत जो साधना वीतरागता के विरुद्ध हो, वीतरागता की ओर न बढ़ाती हो, राग-निवृत्ति में सहायक न हो, राग-उत्पादक व रागवर्द्धक हो—वह साधना नहीं है, विराधना है। वह त्याज्य है।

इस लेख का उद्देश्य जैन, योग व बौद्ध साधना का पक्ष लेना व पुष्ट करना तथा अन्य साधना पद्धतियों को हीन समझना नहीं है। प्रत्युत इन साधनाओं में रही हुई वीतरागता को प्रकट तथा पुष्ट करना है। साधना में मूल्य वीतरागता का है, किसी साधना-विशेष का नहीं। जिससे वीतरागता का पोषण हो वही साधना है। वही स्वीकार्य है। अतः इन साधना-पथों में अथवा अन्य किसी साधना-पथ में जो बात जिस किसी को जहाँ कहीं भी वीतरागता के विपरीत लगे उसे असाधन समझ कर छोड़ देना चाहिये। इन साधनाओं में भी अनेक मतभेद, विचारभेद, दृष्टिभेद, दार्शनिकभेद, कथनभेद, वर्गीकरणभेद, अर्थभेद, समझभेद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो सकते हैं। उन्हें एक ओर रखते हुए साधक को केवल वीतरागता का समर्थन करने वाले सूत्रों को ही अंगीकार करना चाहिये। इसी में कल्याण है, निर्वाण है, विमुक्ति है।

भविष्य में वैज्ञानिक विकास के साथ भोगों की विपुल सामग्री उपलब्ध होने वाली है, जो भोगेच्छा को बढ़ाने वाली होगी। भोगेच्छा की वृद्धि के साथ लाभ, लोभ, संग्रह, मान, मद, स्वार्थपरता, संकीर्णता, हृदयहीनता, कठोरता, अकर्मण्यता, अकर्त्तव्य आदि दोषों की भयंकर रूप में वृद्धि होने वाली है। जिसके परिणामस्वरूप अभाव, तनाव, दबाव, द्वन्द्व, दीनभाव, हीनभाव, नीरसता, निर्बलता, असमर्थता, प्राणशक्ति का ह्रास, संघर्ष, शारीरिक और मानसिक रोग आदि दुःखों की भयावह अभिवृद्धि होने वाली है, जिससे मानव का जीना दूभर हो जायेगा। साथ ही मानवजाति के अस्तित्व को खतरा भी हो सकता है। इन दोषों से, दुःख से, नर्क, स्वर्ग, परलोक आदि से निरपेक्ष धर्म ही बचा सकता है। अतः मानवजाति को बचाने के लिए ऐसे मार्ग की अवश्यकता है जो निज अनुभव व ज्ञान पर तथा निसर्ग व कारण-कार्य के नियमों पर आधारित हो, ऐसा मार्ग 'वीतराग-मार्ग' ही हो सकता है। अतः वीतराग-मार्ग के अनुयायियों का कर्त्तव्य है कि वे अपने मतभेद भुलाकर वीतराग-मार्ग को जन-जन तक पहुँचाकर उन्हें दुःख से मुक्त करने में पहल करें।

—अधिष्ठाता,
श्री जैन सिद्धांत-शिक्षण संस्थान
साधना भवन, ए-९, महावीर उद्यानपथ
बजाज नगर, जयपुर (राज.) ३०२०१७

□□

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org